इक्कीसवी सदी की गुजराती कवितामें उपेक्षित आवाज

डो समीर भट्ट

१

माननीय अध्यक्ष महोदय एवं साथीओ,

नमस्कार।

सबसे पहले तो में आभारी हुं इन्डीयन ईन्सटीटयुट ओफ एडवान्स स्टडी सेन्टर के उन सभी पदाधिकारीओ का जिन्होने मजे यहाँ आकर संशोधन करनेका मौका दीया। मेरे संशोधन का पहला कदम आज यहाँ व्याख्यान के रुपमें आप सबके सामने प्रस्तुत करते हए मुजे प्रसन्नता हो रही है उसका कारन मे व्याख्यान के अंतमे आप सबके सामने रखुंगा।

मेरे शोधपत्र का केन्द्रीय विचार इक्कीसवी सदीकी गुजराती कविता में उपेक्षित आवाजों की कविता की सही पहचान का है। सही पहचान दो अर्थमे - एक उपेक्षित आवाज कीसको कहते हे और दुसरा गुजरात के उपेक्षित आवाजो की कविता की सही पहचानं :जैसा कि मेरे शोधपत्र के शीर्षक में सुचित है। मेरी कोशिश हाशिये में रहते सदियों से उपेक्षित समुदायों की पहचान, उनका बहुपरिमाणी संघर्ष, फटकार और उन आवाज के गुजराती कविता में एकाधिक परिमाण के परिधि में रहने की है।

मैने जो विषय चुना हे वह मूलतः एक अविराम संघर्ष का क्षेत्र है जिसमे अपनी गरिमा, अपने अधिकार, समानता और सहज स्वीकार के लिए जूझते समुदाय के लोगों की व्यथा है। कौन हैं वो लोग? दलित, आदिवासी, नारी जो सदियों से शोषित है, पीडित है, ताडित है, वह समुदाय जो सहज स्वीकृति, समानताके लिए सँघर्ष कर रहे हैं पर उसे अस्वीकृति ही नसीब होती रही हैं। मुख्यधारामे उनके लिए जगह है ही नहीं। स्वीकृति के लीए सँघर्ष, अस्वीकृतिसे आक्रोश और धिक्कार, वेदना और पीडा, क्रोध और उदासी से भरा हुआ एक अलग ही विश्व है उनका। विश्वकी सभी सँस्कृतियों के मानव समाजो में आरंभ से ही सत्ता-आधिपत्यकी राजनीति चली हैं जिसने एक भेदभावयुक्त विश्व का निर्माण कीया है। जातिभेद,

रंगभेद, लिंगभेद से शोषित समुदाय की वेदना और पीडा का आलेख एक विशाल क्षेत्र है, जीसके एकाधिक आयाम है। उन सभी आयामो की बात यहाँ संभव नही है, लेकीन अपनी चतुराई से, कपट से या बल से धार्मिक, आर्थिक, राजकीय और सामाजिक उच्चावचता का, भेदभाव का विश्व रचते अधिपतिओं के सामने हाशिये में पडे उपेक्षितो की वेदना, पीडा, आक्रोश और प्रतिकार जब विषय बनकर कविता में आता है तो कैसे आता है, क्यूं आता है? इक्कीसवीं सदी की गुजराती कविता में गुजरात के उपेक्षित समुदाय की छवि कैसे उभरकर आई है, उन कविताओ का मान्य काव्यशास्त्र से नाता है या फिर उपेक्षित आवाज की कविता का कोइ नया प्रतिमान या काव्यशास्त्र की संभावना की बात जो मराठी दलित साहित्यकारों ने कही है उससे जुडती है- मेरे शोधपत्रमे इन सभी प्रश्नोका उत्तर देनेका प्रयास है

अपने व्याख्यानका इस तरह सीमांकन करने की भो एक वजह है। यहां सीमांकन इसीलिए जरुरी है की अगर हम केवल भारतीय परिपेक्ष्य म ही देखे तो आर्यो के आगमन से (और शायद उससे पहले भी) जो सत्ता की राजनीति अस्तित्व म आई और फिर दस्यु, दास, क्षुद्र जैसे शब्द का प्रयोग कीसी एक समुदाय के लिए होने लगा वहांसे लेकर बीसवी सदी म उपेक्षित समुदाय के लिए बनाये गये हरिजन, दलित जैसे शब्द प्रयोग तक का प्रवास ऐतिहासिक, राजकीय, अर्थशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय और साहित्य-भाषाशास्त्रीय परंपराओ को साथ रखकर करना पडे। इतना लंबा सफर मुजे मेरे व्याख्यान के केन्द्रवर्ती विचार से दुर ले जायेगा। इसीलिए सीमांकन जरुरी ह, लेकीन यह सीमांकन ही सीमोल्लंघन बनेगा ऐसा यकीन मुजे है।

तदुपराँत एक और बात- में अपने व्याख्यान मे केवल सुखी सैध्यांतिक चर्चा की राह पर नही चलुंगा। सिध्यांत और कविता दोनो को साथ रखकर चलुंगा।

२

मेरे प्रास्ताविक म चार शब्द सब से महत्वपुर्ण है। उपेक्षित आवाज्ञ, कविता, सीमाँकन और सीमोल्लंघन। इन चार शब्दसे ही बात का आरंभ करु तो सबसे पहले उपेक्षित आवाज कया है? मुजे यहा के सुविधासंपन्न ग्रंथालय के कम्पुटरमे से ओक्सफर्ड रीसर्च एन्साकलोपीडियाने बताया-"हांशियेके आवाजमे शक्ति, संसाधनो और विशेषाधिकारो की कमी होती है, वे अस्वीकृत समुदाय है जो मास्टर नेरेटीव का पालन नही करत ह और जो सामाजीक बहिष्कार का अनुभव करते ह। क्योकी वो

मुख्यधारा की साँस्कृतिक धारा का हिस्सा नही है इसीलीए उसकी आवाज कई बार मीडियामे दबाई जाती है"- हाशिये के आवाज की स्पष्ट,सरल,सभी लाक्षनिकता उजागर करती ये विभावना हा जीनको सिर्फ माहिती से प्यार है, उसको संतोष मिलेगा। पर जीसे माहिती से संतुष्टी नही चाहिए और अभिज्ञानकी ओर जाना है उसको आना पडेगा इक्कीसवी सदी के गुजराती कवि वजेसिंग पारगी की एक कविता के पास। तो चले?

गरीब के घर जन्मा
इतने से गुनाह के लीये
मेरे ललाट पर लीखी गइ
भुख और मझदुरी?
न पेटभर खाना
ना खेलना,ना कुदना
ना पाठशाला की ओर देखना
मेरे पेट म है भुख की आग
इस आग से है मुजे भागना
मुजसे तो सपने भी दुरी रखते है
ना परियाँ परिलोक में ले चलती है
ना राजकुमारी माला पहेनाती है
मेरे सपनेमें आती है सिर्फ
भुखको भडकाती
हाथको जलाती
कभी न पहुँच पाये अैसी
सुरज जैसी रोटी

अनु-मालिनी गौतम

माहितीदाता ने जो बात कही वही बात- हाशिये के आवाज मे शक्ति,संसाधनो और विशेषाधिकारो की कमी होती है, वे अस्वीकृत समुदाय है- जब वही बात कविता म ध्वनित होती है तब अमरीकी आलोचक ज्योर्ज स्टेइनर जो कहते है - **"The cry in the poem may Sound louder, more urgent,more real than the cry outside "** वो अनुभुति तो होती ही है तदुपराँत उपेक्षित आवाज के करुण विश्व का अभिज्ञान होता है। वह कैसे होता है वो भी झरा देखे। उपेक्षित आवाज की अस्वीकृति, लाचारी,पीडा,संसाधनो की कमी,आर्थिक मजबुरी जब व्याख्या मे आती है तब अेक के बाद अेक रख्खी जाती है। वही बात कविता मे एक दुसरेमे विगलीत होकर एक अखड अनुभव हमे कराती है। ये कविताकी सातवीं,बारहवी,पंद्रहवी और सोलहवी पंक्ति एक साथ रखकर इस बातको समजे-

मेरे पेट में है भुखकी आग (७)

मेरे सपने मे आती है सिर्फ (१२)

कभी न पहुँच पाये अैसी (१५)

सुरज जैसी रोटी (१६)

सातवी पँक्ति मे जो आग है वह भुखकी आग है। ये आग वास्तव म लगी है। सोलहवी पंक्ति मे भी आग है पर वो आग पेट की आग से बहुत दुर है,स्वप्न में लगी है, जहाँ पहुंचना मुश्कील है। क्या चाहिए उपेक्षित को? सिर्फ प्राथमिक अधिकार और मीलता क्या है? दो प्रकार की आग- एक भुख और दुसरी इच्छा जो स्वप्न बन के रह जाती है। जहां एक छोर पर वास्तविक भुख है और दुसरे छोर पर जो शायद कभी मिलेगी ही नही एसी रोटी है जो गरीबके स्वप्न तक ही पहुँचती ह। वास्तव और स्वप्नके बीच है उपेक्षित गरीबकी जिन्दगी। सत्रह पंक्ति के काव्य म ये सब एक दुसरेमे विगलीत होकर जो अनुभुति हमे कराते है वह आर्थिक असमानता से जन्म लेती करुणा की,लाचारी की है। रोटी को सुरजकी उपमा देकर कविने ये ध्वनित कीया है की भुख और गरीबी एक अंतहीन पीडा है। आर्थिक असमानता के दुष्चक से हाशिये म, गीरे हुए लोगो के वास्तव का मच मोर लाउडर, मोर रियल ये काव्य आवाज इक्कीसवी सदी की गुजराती कविता का एक प्रबल प्रभावक सुर है। ये मेरे वक्तव्य की पहली स्थापना। उपक्षित समुदाय की पहचान,कविता से उसका संबंध और उपेक्षित आवाज की इक्कीसवी सदी की गुजराती कविता का एक परिमाण-आर्थिक असमानता के त्रासदायक विश्व की और अपनी पीडा की पहेचान।

लेकीन, वजेसिँगभाई की उपरोकत कविता की सबसे करुण पंक्ति जो मुजे लगी है वो ये है "मुजसे तो सपने भी दुरी रखते है"- यहाँ "तो" और "भी" दो एकाक्षरी शब्द न होते ये पंक्ति काव्यात्मक करुणकी वाहक न बनती। ये पंकित के साथ ही मुजे याद आता है मैने व्याख्यानके आरंभमे जीसका झीक्र कीया था वो चार शब्दमे से तीसरा शब्द- सीमांकन

३

क्यों इतनी अकड दीखाता है बे

मेरे सामने चलते हुए?

डर नहि लगता तुजे?

अपने महोल्लेमे जाकर पुछ ले कीसीको

की मैं कौन हुं ?

यह डरावना पश्न किसी एक आदमीने दुसरे आदमी को नहीं पुछा बल्के युगो से मुख्य समुदाय, जो अपने आपको उच्चवर्णी मानता है,वह समुदाय धर्मकी आड लेकर हाशिये के समुदाय को पुछता आया है। ये प्रश्न केवल प्रश्न नहीं है ब्लके खौफ,त्रास और भय का राक्षसी साम्राज्य रचनेवाले समाज का असली चहेरा है। युगो से एक सीमांकन अस्तित्व मे है। उपेक्षित कवि शंकर पेन्टर की ये सीमांकन की, त्रास की, खौफ की, अत्याचार की कविता इक्कीसवी सदी के ऊपेक्षित आवाज की गजराती कविता के दुसरा परिमाण का परिचय देती है।

भारतीय समाजव्यवस्था में सदीयो से ये त्रासदायक सीमारेखा अस्तित्व म है जीसने एक समुदाय को नाम दिया "अछुत"। जीसको छुने से भ्रष्ट हो जाते है,पाप लगता है, उसके साथ जानवर से भी बदतर व्यवहार होता है, उसको गंदकी मे रहेना है, भुख और अत्याचार सहेना है। वह करे भी क्या? क्योकी-

पुलीस मेरा,मुखी मेरा

तहसीलदार मेरा,मंत्री मेरा

सब अधिकारी मेरे,प्रधान मेरा

दिल्ली तक है प्रभाव मेरा

बता कौन हे तेरा? कौन है तेरा? कौन है तेरा?

मैं अगर ठान लुं तो अभी मार दु तुम्हे।

अब जरा सोचे तो इस कवितामें अकड कौन दिखाता है?कविता मे जो दीखनेकी भी झुर्रत नहीं कर सकता वह अछुत या उसे डराने वाला,धमकाने वाला अधिपति? जो कविता म भी दीखता नहीं ऊसे जीवन में क्हां जगह देगा कोइ ? डरानेवाली, धमकानेवाली ऐसी कविता हाशिये के आवाजका दुसरा परिमाण सामाजिक सीमांकन हमे दिखाती है। ये सीमांकन की बात जब हम करते है तो एक प्रश्न ये उठता है की अगर भुलसे भी सीमा का उल्लंघन हो जाये तो?

४

"बेचारे कालिये को कहाँ पता था

की हम वीरता नहीं दीखा सकते

मृत गायका मांस खा खा कर अलमस्त वो

गुर्राते भोंकते हुए

बीजली की गती से दौडता तेंदुआ जैसा

टुट पडा और गला पकदकर

चारो खाने चित्त कर दिया मोतियाको"

अब ये तो सीमोल्लंघन हुआ। ऐसे थोडी चलेगा? फिर तो सारा गाँव इकठठा हो गया और कहने लगा -

"चलो अब देर मत करो

साले कुत्ते भी बलवान हो गये है इनके"

सब कुत्ते के पीछे दौडते है पर मोतिया हाथ नही आता तो?

"जैसे कहावत है ना -विफल सेना निर्बल पर जोर दीखाये-

वैसे ही थकी -टुटी-बीखरी भीड

दलितवास पर टुट पडी"

आखरी चार पंक्ति- " खमा बाप खमा

कालिया तो जानवर है

पर आप तो हमारे मानव देव

बेचारे कालियेको कहाँ पता था

की हम वीरत्व नही दीखा सकते।"

आगे जो शंकरभाइ की कविता मैने रख्खी थी वो एक अदृश्य फरमान की थी। नीरव पटेल की यह कविता उसका उल्लंघन करने से जो सजा मीलती है उसकी है। अैसा अलिखीत फरमान सदियोसे जारी हुआ है की उपेक्षित मानव तो क्या उनके महोल्ले मे पलता जानवर भी यदी उल्लंघन करता है तो पुरे समुदाय को सजा मीलती है। मनुश्य ही नही दलितो की देवी को भी भुगतना पडता है। पुरी कविता मे दो बार संवाद और बाकी युध्ध का, अत्याचार का वर्णन है। दो संवाद की भाषा भी शोषक और शोषित का अंतर स्पष्ट करती है। -तो इक्कीसवी सदी की गुजराती उपेक्षित आवाज की कविता का तीसरा परिमाण-सीमोल्लंघन और सजा।

५

हाशिया के, उपेक्षित साहित्य म सीमांकन और सीमोल्लंघनका एक साहित्यिक विमर्श भी भारतीय साहित्य मे बीसवी सदीमे हुआ था। महाराष्ट्र साहित्य अकादेमी ने सन १९६७ म दलित साहित्य पर एक परिसंवाद का आयोजन किया था। उसमें दलित लेखन के अधिकार के बारे में दो राय सामने आई थी। एक पक्ष का ये मानना था की दलित साहित्य सीर्फ दलित ही लीख सकता है क्योकी दलित होने के कारण वो दलितो की वेदना पुर्णतः समजेगा और लिख सकेगा। दुसरा पक्ष ये मानता था की जीसमे दलितो की स्थिति और समस्या का समभावपुर्ण आलेखन हो उसे दलित साहित्य कहना चाहीए। निर्मलकुमार फडकुले और नरहर कुरंदकर दलित साहित्यको सामाजिक अभीज्ञता का साहित्य मानते है। सीर्फ दलित को ही वो अभीज्ञान हो एसा नही होता। दलित साहित्य दलितो के लीए, दलितो पर जरुर होना चाहीए लेकीन ये जरुरी नहीं की दलित ने ही लीखा हो। ये बात सवर्ण समुदाय के साहित्यिक सीमोल्लंघन की है। ये विमर्शका काव्यात्मक अस्तित्व गुजराती कविता म है। गुजराती कविता के इतिहास मे दलितो के प्रति सिम्पेथेटिक पर्सपेक्टीव से सबसे पहले आदि कवि नरसिंह महेता ने समाज की परवा न करते हुए दलितवासमे जाकर भजन कीए, बादमे बीसवी सदीका तीसरा-चौथा दशक तो गांधीविचारसे (थोडे मार्कस एवँ प्रगतिवादसे) प्रभावित गुजराती कविता म दलित, पीडित, शोषित समुदाय की कविताओ का है।जो सीम्पेथेटिव पर्सपेक्टिव है उसमे समभाव से, सम्यक दृष्टिकोण से मुख्यधारा के साहित्यकारो ने उपेक्षित समुदाय की बात रख्खी

है। लेकीन जीसको हम उपेक्षित समुदाय कहते है, उसने अपनी पीडा की,व्यथा की अभिव्यकित जब की तो वेदना,व्यथा और और आकोशका एक अलग ही काव्यविश्व अस्तित्वमें आया। तो जरा देखे की गुजराती कविता मे हाशिये मे रहनेवाले समुदाय की कविता का प्रगटीकरण कब,कैसा और क्युं?

६

बीसवी सदी के अंतिम दो दशक म गुजराती साहित्य मे सही मायने में उपेक्षितोकी आवाज अपने सभी आयामोके साथ उभरकर आई।ऊसके कारण क्या है? वह जाने तो सब से पहेले बाबासाहब आंबेडकर ने दलितो को जो "टु बी ओज्युकेटेड, टु बी युनाइटेड ओन्ड टु बी स्टगल" का संदेश दिया उससे गुजरातका शिक्षित दलित बहुत प्रभावित हुआ। दुसरा शिक्षित होने के कारण भुत और वर्तमान दोनो उसके लीए बेशुमार पीडा लेकर आया। वर्तमान समय में जो वेदना,पीडा और अमानवीय अत्याचार उसने देखा,भुगता उसकी जडे भारतीय साँस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्थाओ के, साहित्यिक परँपराके ग्रान्ड नेरेटिव्समे उसने देखी। भुत मे छीपे अत्याचार की पहचान तो उसे हुई, साथ ही जो वर्तमान उसके सामने आया वो कैसा था? बीसवी सदी के नौवे दशक मे हुए दो अनामत विरोधी आदोंलन और हिसा,दो हत्याकाँड (एक गोलाणा गाँवमे और एक जेतलपुर गाँवमे), सामाजिक बहिष्कार,आर्थिक शोषण,अछुत नारी का जातिय शोषण और अगर आदिवासी समुदाय की बात करे तो जमीन पर अतिक्रमण,आर्थिक कटोकटी और अपनी निर्मल प्राकृतिकता पर चडता बाझारका रँग- ऐसा त्रास और पीडा से ग्रसित वर्तमान उसके सामने था। सरकारी दावे,सवर्ण अधिपति से लेकर पुरे सवर्ण समुदायका कपट भी उसके सामने था। उसे शायद ये भी पता था की अपने समयकी गुजराती आधुनिक कविता जो वैश्विक चेतना और वैयक्तिक अस्तित्वपरक पहचान के,भाषिक संरचनाओ के ग्रान्ड नेरेटीव्स के रास्ते चल रही है उसमे उनके पुरे समुह की पीडा के लीटल नेरेटीव्स के लीए जगह नही है। फिर अत्याचार,यातना,पीडा को उजागर करने उसने कविता का रास्ता चुना। वो साहित्य की ळ कविता की प्रभावकता जानता था। अब जरा ये देखे की वर्तमान से त्रस्त शिक्षित दलित कवियों ने जो अपना रास्ता चुना वो रास्ता कैसा था? ये सवालके उत्तरमे हाशियेके आवाजकी सही पहेचान छीपी है।

७

" इसी रास्ते से?

हा, यही वो रास्ता है जहाँ

मंत्रोच्चार, पुरा शरीर नहीं अकेला मस्तक,

लहुलुहान कर्मठ हथेली

धीर, वीर, महाप्राण पुरुष के

क्वच-कुन्डंल, बाण और रथ

यहां वहां बीखरे पडे है

हमारे स्वप्नके भग्न अवशेष"

और गुँज सुनाइ देती है

जमीन में गाड दीये गये

हमारे पुर्वजो की हरी हरी खुपडीओ में

तडपते चित्कारकी,

तभी तो

हम वैताल बनकर आज

कीस ने, कब और कैसे

सहे अत्याचार- के ईतिहास की

भीषण ऋचाओ को जपते है

और पहाड जैसी सामने खडी

परंपरा का प्रलय हो

इसी इच्छा से

हम काल भैरव भुकँप बनकर

डमरु बजाते है आज।

इसी रास्ते से ?

हा, इसी रास्ते से।

भीं न वणकर की यह कविता पुरी दलित कविता के सभी आयाम हमारे सामने रख देती है और हमे हाशिये के आवाज - दलित आवाज की आंतरबाह्य संरचना समजा देती है। जो सदियोसे चली आयी है वो परंपरा उपेक्षित समुदाय के लीए कीतनी अन्यायी है उसका प्रमाण इस कविता की १ से १० पंक्ति में हमे मीलता है। फीर ११ से १८ पंक्ति में आरंभ से आजतक का अत्याचारी सफर और १९ से २८ पंक्ति में हींसक प्रतिक्रिया। परंपरा ध्वस्त करने हेतु विद्रोह। इतिहास करवट बदल रहा है,प्रतिकार-विरोध का समय आ गया है ऐसी गर्जना करती ये कविता एक या दुसरे रास्ते से परंपरा के संपुर्ण निषेध की बात रखती है। इक्कीसवी सदी की गुजराती दलित कविता सवर्णो के दवारा कीये गये सीमांकन के प्रतिकार की कविता हौ विद्रोह और नकार उसके दो रुप है। अब ये जो नकार और विद्रोह है वो परंपरित सामाजिक और धार्मिक ढांचे का तो है ही, उसके उपराँत मान्य भाषा और मान्य काव्यशास्त्र का भी है। वणकरजी की ये कविता की भाषा देखो-उन्होने जो शब्दप्रयोग कीये है वो देखो- "कर्मठ","धीर","वीर","भग्न अवशेष", "ऋचा", "प्रलय" - आदी शब्द तो संस्कृत तत्सम शब्द है। ऋषि परंपरा से जीसका संधान है वो भाषा उपयोग में लेकर अपनी करुण, कुत्सित और त्रासदायक परिस्थिति और साँस्कृतिक, राजकीय, धार्मिक,साहित्यिक ग्रान्ड नेरेटिव्स में छोपे हुए अन्याय का परिचय देने से विडंबना,व्यंग्य की तिक्ष्ण धार निष्पन्न होती है। भाषा से ही भाषा का नकार, परंपरा को उसके अपने शस्त्र से ही परास्त करना ये दलित कविता की एक विशेषता है। अब जरा काव्यशास्त्र की बात करे तो गुजराती कवि प्रवीण गढवी के एक काव्य "नियतिकत नियमरहिता" म तो संस्कृत काव्यशास्त्र का नकार उसी के लक्षणो से कीया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यंग्यार्थ की महिमा है दलित कवि उसका नकार करते हुए कहता है-"वाच्यार्थ छोडकर मैं व्यंग्यार्थ का मुखौटा क्युं पहनुं?" दलित कवि वाच्यार्थ की उपासना करता है उसकी भी एक वजह है। उपेक्षित समुदाय अपने यथार्थ को उजागर करते है। वह वर्तमान से ही जुडे है।अपने

वर्तमान को बदलना चाहते है। इसीलिए हाशिये के आवाज की कविता में, दलित कविता में कोइ अमुर्त आदर्श की बात नहीं, सौंदर्यानुरागी भाषा नहीं -कविता के मान्य रास्ते उसे रास नहीं आते है। परंपरित काव्यशास्त्र में सर्जन को "ब्रह्मानंद सहोदर" कहा गया है और उसके नायक-नायिका धीर, वीर, उदात्त होते है। दलित कविता में मान्य काव्यशास्त्र की, ग्राँड नेरेटिव की ये धारणा नहीं चलती। दलित कवि के लीए सर्जन वर्तमान जीवन से त्रस्त होकर उठता आर्तनाद है। वो अपने क्रुर यथार्थ का आलेखन अपनी भाषामें करता है। उसके पास है थोडी तीखी, कटु, झनुनी, थोडी त्रस्त भाषा जो कभी मान्य भाषा का स्वांग रचकर उसकी विडंबना करती है तो कभी निषिध्ध तक पहुँचती है और आक्रोश से लेकर सुनकार तक के सभी रुप हमें दीखाती है।अपना वर्तमान, अपना यथार्थ, अपनी भाषा, अपनी अलग काव्यप्रयुक्तियाँ और काव्य के अपने प्रयोजन -इन सबको मिलाकर अपने छोटे नेरेटिव में उसका काव्यजगत उभरता है। उसे समजने के लीए हमे अपनी संवेदना और काव्य समज का विस्तार करना होगा।

इक्कीसवी सदीकी गुजराती दलित कवितामें सीमांकन, सीमोल्लंघन और सजाके विविध रुप दीखते है जीसमे आक्रोश है, नकार है, प्रतिक्रिया है और प्रतिभाव भी है। सामाजिक बदलाव की इच्छा से जन्मी इक्कीसवी सदीकी गुजराती दलित कविता कभी कभी तो सीर्फ आक्रोश दीखाती है। पर जब वो विलंबित प्रतिभाव की ओर कदम रखती है तब वह आचार्य मम्मट के दो काव्यप्रयोजन "सद्यपरनिवृतये" और "कान्ता सम्मितयोपदेश युजे" सिध्ध करती है। ये "विलंबित प्रतिभाव" शब्द का प्रयोग गुजराती के मान्य आलोचक चंद्रकान्त टोपीवालाने अपने ग्रंथ लघुसिध्धांतवही मे प्रतिबध्ध कविता की चर्चा करते हुए कीया है। इक्कीसवी सदीकी गुजराती दलित कविता "नवरसरुचिर" नहीं है बल्के मराठी आलोचक आचार्य जावडेकर और यदुनाथ थाट्टे जीसे दसवाँ और ग्यारहवा रस कहते है वो रुदन और विद्रोह की कविता है।

८

गुजरात के मध्य, उत्तर और दक्षिण विस्तार में अपनी नीजी पहेचान का, पीडा का, वेदना का, लाचारी का एक उपेक्षित विश्व है।जंगलने उसको और उसने जंगलको संभाला है। उसकी अपनी मान्यताए है, मुख्यधारा से अलग, अपनी जमीन से जुडी

कथाए है। ग्रांड नेरेटिव के महाकाव्यो को अपने सांस्कृतिक-धार्मिक और सामाजिक संदर्भो में पीरोकर अपनी जमीन से जुडे महाकाव्यो की मौखिक परंपरा भी उस समुदाय में है। अपने उत्सव, मेले, अपनी श्रध्धा-अंधश्रध्धा के बीच वो रहते है। एक आदिम विश्व के साथसाथ उसके सामने आर्थिक बेबसी से झुझता वर्तमान भी है। वर्तमानमें ये समुदाय मुख्यधारा के आर्थिक, सांस्कृतिक, राजकीय अतिक्रमण से त्रस्त है। अब जरा ये देखे को ये आदिवासी समुदाय का आदिम विश्व से करुण वर्तमान तक का सफर इक्कीसवी सदीकी गुजराती कवितामें कैसा है।

कोने - कानजी पटेल

घर के दो कोने

अंधेरा और उजाला

अंधियारे कोने में

सोगान के पत्ते पर

मीट्टी के गारे से

हमने दो आकार

अंग और भँगिमा के साथ रचाये

उनमें जान भी फुंक दी।

प्रभु तो बहुत बाद में आये थे।

उजीयारे कोने में

हमने माटी के अवतार बनाए

खम्मा,

अखंड धरती को घणी खम्मा।

आदिवासी समुदाय की अपनी आदिम सँस्कृति, अपना स्वयंसर्जित विश्व, अपनी कथाओ के नीजी कल्पनालोक को कविने काव्य के आरंभ में संयत सुर से

(लाघवसे) प्रगट कीया है। दो पंक्ति पर जरा घ्यान दे-"प्रभु तो बहुत बाद में आये थे" और "खम्मा, अखंड धरती को घणी खम्मा"। जब प्रभु नहीं थे तब घरती अखँड थी। जब प्रभु (सत्ताधिश) आये तो क्या हुआ?

"आँख मुंदते ही प्रभुने तो

अखँड के

नवखंड में हिस्से कर दीए

बीच बीच में पानी भरा

हम देखते रहे

पभुने कहा

बीच बीचमें पानी रखना ही होता है।"

"प्रभु"-चाहे कोई भी हो, उसका काम संस्कृति के आरंभसे यही रहा है। वे अखंड को बांट देते है,खंडित करते रहे है। जब "प्रभु"ये कार्य करते है तब क्या होता है? देखे काव्य की करुणतम पंक्तिमे- "हम देखते रहे"। "प्रभु"के हाथो अखंड क नवखंड हिस्से हो रहे थे तब अवश,बेबस समुदाय सीर्फ देखने के अलावा क्या कर सकता है? इतना ही नहीं, प्रभु समजा भी देते है-"बीच बीचमें पानी रखना भी होता है"। अब आगे जरा देखे-

"बनते बनते हुआ ऐसा

कि पानी बढता गया

कोने से कोने दुर होते चले गये

प्रभुने कहा

तुम दोनो मोलकर

इतना पानी पी जाओगेना?"

काव्य की बीसवीं और छब्बीसवी पंक्ति साथ रखे- "बीच बीच मे पानी रखना ही होता है" और "इतना पानी पी जाओगे ना"- सत्ताधिशो की पुरी राजनीति इन दो पंक्ति में छीपी हुइ है। पहले बांटना, फीर स्वार्थ पुरा होने के बाद खीसकना - यही है सत्ताधिशो का चरित्र। एक ओर दुरी बढती गइ है तो दुसरी तरफ मुख्य समुदाय का आक्रमण भी है।आदिवासी समुदाय दुरी से भयानक आर्थिक समस्या और आक्रमण से जमीनी विस्थापन से त्रस्त है।विस्थापन की कविता तो कम दीखती है पर आर्थिक समस्या-गरीबी, असह्य श्रम, अपनी अंधश्रध्धा, सामाजिक दबाव, भेदभाव से जुझते अदिवासी समुदाय की कविता में ना तो आक्रोश है और ना ही भाषा का भडकाउ रुप। वो विद्रोह तो नही करता पर कुछ सवाल जरुर पुछता है।

"देव-तेरा ससुर मरता है?

पेरुल लेकर जाना होता है?

हरा लाना होता है?

भुख लगती है तो धान खाता है?

हमको हरा पीलाकर नचा

या

फीर यहाँसे चला जा।"

आदिवासी समुदाय की इक्कीसवी सदी की गुजराती कविता में हांशियेके आवाजका एक नया परिमाण हमें मीलता है - वो है संयत आवाज और सुनकार।

९

"सरोवरके

निष्कंप जलमें

चंद्रके चारोओर ही रहती

मछली आश्चर्यचकित है

वह

तैरता क्युं नहीं?"

- पन्ना नायक

अपना पुरा विश्व हमने जीसके साथ जोड दीया हो और हमे ये पता ही न हो की वो हमारे साथ नहीं है सीर्फ साथ होने का आभास ही हे तब? पुरुष साथ रहकर भी अपने आसमान में रहता है,नारी के पास तो उसकी परछाई है- यह अभिज्ञान इक्कीसवो सदी की गुजराती नारी चेतना की कविता के दो परिमाण अवकाश और मौन - हमे दीखाती है।लेकीन नारी की गुजराती कविता यहाँ रुकती नहीं,वो अपने नीजी विश्व की स्थापना की और चलती है।

"तुं

मेरी नाँवके पतवारमें

छेद करके पवन चुरा लेगा

और मेरी नाँवमें पुरा समंदर भरके डुबा देगा

लेकीन

अपनी कविताकी पंक्तिमें

मैने जो वसंतऋतुका सर्जन कीया है

उसे कभी पलट ही नही सकेगा तुं

पतझडमें"

एक ओर नाँव देना और फीर उसमे छेद करना,नाँवमें समंदर भरना (अश्रु और समंदरकी समानता अगर पहेचानोगे तो शोषणका सुक्ष्म रुप जान सकोगे)। जब ये अभिज्ञान होता है तब नारी अपनी पहचान,अपना सुख अपने अनोखे वासंती काव्यविश्व का निर्माण कर लेती है। हालाकी, इक्कीसवी सदी की गुजराती नारी आवाज की कविता में कोइ विद्रोह नहीं है।जीसे हम नारीवाद कहते हे उसकी कोइ असर हमे यहाँ नहीं दीखती। पुरे समाज को उसके बारे में सोचने के लीए मजबुर

करदे ऐसी कविता भी नझर नही आती। नारी के जातिय शोषणकी कविता भी यहाँ नही दीखती। यहाँ तो सीर्फ अपनी अवहेलना की पहचान और साथ रहकर अपने मनोजगत में विहार और कवितामें संवाद कर लेना ही है। हा, अपने शरीर का और अपनी वृत्तिओ का विश्व इक्कीसवी सदी की गुजराती नारी आवाज की कविता मे उजागर हुआ है। कवयित्री मनीषा जोशी की ये कविता देखो-

"आदमखोर नरपिशाच जैसी भुख लगी है

मन करता है

कि दरख्त पर बैठे ईस अकेले गीध्धकी

प्रेयसी बन जाउ

बडी गर्विली पांखे फैलाकर

उनके संग अगोचर प्रदेशोमें उडती रहुँ

और जहाँ मृत्यु दीखे वहाँ रुक जाउ

कितने सारे किस्म किस्म के मुर्दोका भोजन?

और एक शब मेरे उस प्रेमीका है

जीसे लाख चाहने पर भी पा न सकी थी।

जीवनमें कभी नहीं चखा एसा

तृप्तिकी डकार मीली है मुजे

ईस गीध्धकी प्रेयसी बनकर।"

१०

इक्कीसवी सदी की गुजराती कविता में उपेक्षित आवाजका एक ओर पहलु गुजराती भाषा के प्रसिध्ध कवि, आलोचक सितांशु यशश्चंद्र जीसे अक्षमितो की काव्यधारा कहते हे वो है।

"बचपन में मेरे लीए

बापु लाये थे झुलडी

धोने से वह थोडी छोटी हो गई

बेरंग हो गई

धागे नीकल गये

झुलडी मुजे पसंद न आयी

मैने मुह फुलाया

नहीं पहननी मुजे ये झुलडी

सिर पर हाथ रखकर मा ने समजाया

पहन के फाड दे बेटा

फट जायेगी तब नई लायेंगे।

आज तो झुलडी जैसा ही

हो गया है मेरा शरीर

अनगीनत झुरियाँ दीखने लगी है

जोड कमजोर पड गये है

सांस लेने पर ही सिहरने लगे है

लेकीन मन कहता है

नहीं पहनना ये शरीर।

जैसे उसे त्यागनेका

प्रयास करता हुँ

तो

याद आती है माँ

और माँ की वह प्यारी सी बात

"पहन के फाड दे बेटा

फट जायेगा तब ही"

इक्कीसवी सदी के आदिवासी और अक्षमित सर्जक वजेसिंग पारगी की यह कवितामें कोई औपदेशिक बात नही है,रुदन नहीं हैं,नियती को कोसकर उदास रहनेवाली बात भी नही है। यहाँ तो अक्षमता के साथ रहकर, उसे स्वीकार के जीने की बात है। वास्तव का सहज स्वीकार करके उसकी संतुलित अभीव्यक्ति करने की बात है। इक्कीसवी सदी की गुजराती अक्षमित कविता का यह एक परिमाण है तो दुसरा परिमाण शरीर और शरीरकी पीडा के साथ संघर्ष है।

जन्म लेते ही सेरीबल पाल्सी हुआ फिर भी अपनी परिस्थिति का स्वीकार करके जीसने डोक्टरेट कीया और आज अमरिका में अकेली रहकर अपने तरीके से अपना जीवन रचती इक्कीसवी सदीकी गुजराती भाषाकी बहादुर कवयित्री विपाशा महेताने गुजराती अक्षमित साहित्य को नया आयाम दीया है।अपनी एक कविता में वो अपने अक्षमित शरीर की पीडा और संघर्ष को कैसे रखती है वो जरा देखे -

"हररोज

एक नये आईने का विगलन

ह्ररोज एक नया मुँह

नया आकाश

जीसमें टुटके बीखरता है

एक आईना

उसके छोटे छोटे टुकडे

चहेरे पर

आंखमे घुसते हुए

रोज एक नये मुँहको खाकर"

अपने शरीर से दुर जाकर आलेखन करना और वो भी निर्मम लगे ऐसी भाषा में - ये इस बात का सबुत हे की विपाशा नीडर बनके खडी हे अपने अक्षमित शरीर के आगे। ईतना ही नहीं वो कविता के रास्ते अपने अक्षमित शरीर के भीतर कभी चक्राकार तो कभी सीधी गतीसे प्रवास करती है। जहाँ उसे रुकने जैसा लगता है वहाँ रुककर हमसे बात भी कर लेती है।

"अलग अलग

टुकडे मगजके

जीते है

जड शरीर के कोनेमे"

विपाशा की कविता में हमे हाशिये के आवाज का एक नीडर और साहसिक रुप मीलता है। वो रुप जो वैयक्तिक होते हुए भी पुरे अक्षमित समुदाय के सामने (और हमारे सामने भी) दीप और दर्पण बनता है।

अंत में, बीसवी सदी के अंतिम दो दशक में गुजराती कविता में उपेक्षित आवाजकी कविता का प्रागटय हुआ। सदियों से चले आए अन्याय का प्रतिरोध करती ये कविता अपने ध्येय को हांसिल कर सकी है? सामाजिक बदलाव की अपेक्षा पुर्ण हुइ है? ऐसा प्रतीत होता है की स्वानुभव रसित हाशिये के आवाज ने मुख्यधाराके सामाजिक, आर्थिक,राजकीय,धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्रो को सोचने के लीये मजबुर जरुर कीया है, पर संघर्ष अभी जारी है। कुछ सवाल ऐसे भी है जीसका उत्तर समय देगा। गुजरात में इक्कीसवी सदी में कुछ ऐसी घटनाए हुइ है जीसने उपेक्षित समुदाय को गहरी चोट पहुँचाइ है। तदुपरांत कई एसे समुदाय है जैसे सागरखेडु, देवीपुजक, लघुमति- जीसकी कविता मीलती नहीं है। दलित कविता ने प्रारभ में जो उत्साह दीखाया था,उसमे मानो जैसे ओट आई दीखती है। दलित कविता को एक बडे सर्जक की तलाश है। नारी की कविता भी मंदप्राण दीखती है। शोषित नारी की पीडा जैसे आनी चाहीए वैसे नहीं आती। गुजराती कवयित्री

सरुप ध्रुवने अपनी कविता में प्रतिबध्धता से सभी शोषित समुदाय की वेदना और पीडा को काव्यरुप दीया है पर वह पर्याप्त नही है। वैसे अगर देखा जाये तो मजबुत जडोवाली परंपरा को ध्वंस्त करना या उनमें अपनी स्थापना करना कोई आसान काम नहीं है। फीर भी, ऊपेक्षित आवाजकी कविता इक्कीसवी सदी की गुजराती कविताका एक प्रभावक सुर है।

संदर्भ ग्रंथ सुचि (संक्षिप्त) :-

१, सत्ता, संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, सुरज बडत्या, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ही-२०१०

२, नारीवादी विमर्श, राकेशकुमार, आधार प्रकाशन, पंचकुला-२००४

३ साहित्य और विचारधारा, ओमप्रकाश ग्रेवाल, आधार प्रकाशन, पंचकुला-१९९४

४, नारीवाद विभावना अने विमर्श, सं : उर्वशी पंडया, पार्श्व पब्लिकेशन, अमदावाद २००८

५, कविनो अवाज, प्रवीण गढवी, नवरत्न एन्टरप्राइझ, अमदावाद २००९

६, रचना के सरोकार, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, वाणी प्रकाशन, १९९६

७, लघुसिध्धांतवही, चंद्रकान्त टोपीवाला, पार्श्व प्रकाशन, २००७

८, हस्तक्षेप, सरुप ध्रुव, संवेदन सांस्कृतिक मंच, अमदावाद, २००३

९, वोन्टेड पोएटस, नीरव पटेल, रंगदवार प्रकाशन, अमदावाद, २०१९

१०, दलित कविता, सं : प्रवीण गढवी, गुजरात साहित्य अकादमी, गांधीनगर, २०१२